# धर्म, समाज और राज्य

प्रफुल्ल कोलख्यान

> 'जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। साझे में खेती होती थी। कुछ लेन-देन भी साझा था। एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने गये थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गये थे, और अलगू जब कभी बाहर जाते तो जुम्मन पर अपना घर छोड़ देते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता; केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूलमंत्र भी यही है।'
>
> \- पंच परमेश्वर : प्रेमचंद

विचारों का मिलन राजनीतिक जनतंत्र की अंतर्वर्त्तिता में सामाजिक जनतंत्र को और वैधानिक नयाय की अंतर्वर्त्तिता में विवेक-सम्मत सामाजिक न्याय को व्यवहार का आधार देता है। खान-पान का व्यवहार और धर्म का नाता न रहने पर भी जुम्मन शेख और अलगू चौधरी के बीच साझे में होनेवाली खेती और साझा लेन-देन सामान्य खेती और सामान्य लेन-देन मात्र नहीं है। इस साझेपन का व्यापक सांस्कृतिक आयाम भी है। इस व्यापक सांस्कृतिक आयाम का आधार जीवनयापन की समाजार्थिकी से समर्थित और विकसित विचारों का साझापन है। विचारों के साझेपन में कमी आने से सामाजिक और सामुदायिक मित्रता का नैसर्गिक आधार खतरे में पड़ जाता है। जीवनयापन देहधरे का सब से बड़ा धर्म है। जीवनयापन सामाजिक साझेदारी प्रक्रिया के अंतर्गत संभव होता है। दिन-प्रतिदिन के जीवनयापन के संघर्ष में साझेदारी और सामंजस्य के लिए आलोचनात्मक सामाजिक विवेक की जररूत होती है। कहना न होगा कि हम साहित्य से जुड़े हुए लोग हैं और साहित्य के प्रयोजनों को लोगों के प्रयोजनों से जोड़े रखना हमारी चाहत है। साहित्य मूलत: सामाजिक स्वप्न के सतर्क अंतरंग का संगत विवेक विमर्श भी है। इस विवेक विमर्श का सहज उत्पाद विचार का संवेदना पक्ष है। दर्शन में विचार तर्क समर्थित ज्ञान के गर्भ में विकसित होता है।

साहित्य में विचार, विवेक समर्थित संवेदना के गर्भ में विकसित होता है। जीवन में ज्ञान की बहुत बड़ी महिमा है। समाज इस ज्ञान का आदर करता है। समाज जिंदा रहता है संवेदना के बल पर। वह समाज आदर्श होता है जिसमें ज्ञान और संवेदना में कहियत भिन्न, न भिन्न का संबंध विकसित होता है। कहना न होगा कि हमारा समाज इस आदर्श को अभी हासिल नहीं कर पाया है, इसलिए कबीरदास ज्ञान की आँधी से तो सावधान करते हैं, ज्ञान का निषेध नहीं करते हैं। समाज में साझा विचार विवेक समर्थित संवेदना के साझापन से बनता है। शायद इसीलिए सतसंग की सामाजिक साझीदारी के बिना विवेक के सक्रिय होने की बात की ही नहीं जा सकती है, तलसीदास के शब्दों में कहें तो– बिनु सतसंग विवेक न होई! सतसंग की सामाजिक साझेदारी के अभाव में विवेक बाँझ हो जाता है। विवेक के बाँझ होने से साझीदारी का संगत विचार पिष्प्राण हो जाता है और विचारहीनता के तर्कातीत उन्माद का दौर शुरू हो जाता है। विचारहीनता के तर्कातीत उन्माद के कठिन समय में विचार और विचारों के साझापन की संवेदना को कैसे बचाये रखा जाये, यह हमारी केंद्रीय चिंता है।

जीवन में तर्कातीत की जगह और वजह को हम ठीक से नहीं समझेंगे तो उसके उन्माद में बदलने की प्रक्रिया को रोकने में भी कामयाब होना मुश्किल ही होगा। जीवन के गणित में हमेशा दो जोड़ दो चार ही नहीं होता है। जीवन-तर्क कई बार अदृश्य रह जाता है। जाहिर है, हर किसी को हर समय अपने जीवन का बना-बनाया तर्क हासिल नहीं होता है। हर किसी को अपने विभिन्न जीवन-प्रसंगों में जीवन-तर्क का उपार्जन करना पड़ता है। अकेले-अकेले जीवन के संसाधन उपार्जित नहीं किये जा सकते हैं। जीवन-तर्क का उपार्जन भी अकेले-अकेले संभव नहीं होता है। इसके लिए सामाजिक प्रयास की जरूरत होती है। जीवन के के लिए जरूरी संसाधन कई बार सामाजिक प्रयत्न के बावजूद हासिल होने से रह जाते हैं। सामाजिक प्रयास के बावजूद समाज विकास की विभिन्न अवस्थाओं में जीवन-तर्क का एक हिस्सा हासिल होने से रह जाता है। जीवन में एक ऐसा कोना बना रह जाता है जहाँ नीम अंधकार या पूर्ण अंधकार दुबका रह जाता है। इसका एहसास तब होता है जब जीवन के किसी कमजोर क्षण में यह अंधकार झपट्टा मारकर हमारी चेतना को लहुलुहान कर देता है। समाज विकास की अगली अवस्था तक स्थगित जीवन-तर्क से बने अंधकार जीवन के साथ चलते रहते हैं। जीवन के इसी दिमागी गुहा अंधकार में रहस्यावृत्त 'विश्वास' और 'आस्था' का जन्म होता है। इस रहस्य के बने रहने के कारण 'विश्वास' और 'आस्था' की व्यवस्था रूढ़ होकर धर्म-संस्था हो जाती है। समाज विकास की एक खास अवस्था में, जीवन-तर्क के हासिल होने तक, अंधकार से लड़ने के लिए धर्म लोक आश्वस्तकारी मूल्य-समुच्चय बनाता है। इस में निहित आस्था के आयाम से निष्पन्न मूल्य-समुच्चय समाज और धर्म के बीच के संबंध का संस्थागत आधार बनता है। सानुगतिक समाज विकास की उच्चतर अवस्था में पहुँचने के बाद स्थगित जीवन-तर्क से बने रहस्य के खुल जाने के बावजूद, प्रभुवर्ग समाज और संस्थागत धर्म के संबंध की स्थैतिक जड़ता के बल पर दिमागी गुहा अंधकार को चिरकाल तक बनाये रखने का प्रयास

जारी रखता है। प्रभुवर्ग जानता है कि समाज के ऊपर कठोर वर्चस्व बनाये रखने में संस्थागत धर्म का उपयोग कैसे किया जाता है! छल का बल लेकर संस्थागत धर्म की शास्त्रीयता का पुरोहितवादी रूप हमारे सामने आता है। विडंबना ही है कि राज्य की दासता को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारनेवाला धर्म का पुरोहितवादी मिजाज अपने अनुयायियों को मुक्ति का परचून बाँटता है। दासता में आनंद की खोज करनेवाला भला दूसरों को कैसे और कैसी मुक्ति का राह दिखायेगा! इस पुरोहितवादी धर्म के विरुद्ध संघर्ष करते हुए लोकधर्म का उदय होता है। भारत में यह संघर्ष भक्तिकाल में हुआ। नामवर सिंह ठीक ही कहते हैं, 'इस प्रकार मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अतंर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिंदु धर्म का संघर्ष।' सूफी और संत इसलाम ओर हिंदु अपने-अपने धर्म की 'शास्त्रीयता' के अंधत्व का विरोध अपने लोकधर्म के आलोक से कर रहे थे। कबीर तो दोनों ही धर्म की 'शास्त्रीयता' के अंधत्व का विरोध एक साथ कर रहे थे। भक्ति काल का महत्त्व इस बात में है कि उसके संतों ने वाणी और कर्म दोनों स्तर पर 'सीकरी' से अपने 'संबंध' का निषेध किया। उस जमाने में भी 'सीकरी' से 'संबंध' रखनेवाले संत क्या कम रहे होंगे! अंधेरे में नहीं देख पाना अंधत्व का लक्षण नहीं है। लेकिन उजाला हो जाने के बावजूद देखने में अक्षम होना अपने अंधत्व का और देखने से कतराना दूसरे को अंधत्व का शिकार बनाने का लक्षण है। भक्तिकाल के संतों ने धर्म का नहीं धर्म के नाम पर सामाजिक अंधत्व को बनाये रखने की राजकीय परियोजनाओं का विरोध किया। आज जीवन में अंधकार के घेरा को योजनाबद्ध तरीके से बढ़ाया जा रहा है। अंधकार का साझापन बढ़ रहा है। आलोक का साझापन कम हो रहा है। आज हमारे सामने संघर्ष का एक मुख्य सरोकार आलोकित विचारों के साझापन को कम करनेवाले और राजकीय दासत्व में पल रहे धर्म के पुरोहितवादी रुझान के द्वारा फैलाये तर्कातीत उन्माद के गर्भ से जनमे अंधत्व के प्रसार को बढ़ानेवाले कुत्सित विचार से है। इस संघर्ष को कैसे सार्थक ढंग से आगे बढ़ाया जाये?

आज हमारे सार्वजनिक जीवन में 'सीकरी संतों' के कारण धर्म के नाम पर भारी कोलाहल और कलह जारी है। विज्ञान के विकास के बावजूद पूरी दुनिया में धर्म को लेकर नये सिरे से समूहन और संघात का वातावरण बनता जा रहा है। धर्म के संदर्भ से जीवन में अधिक जगह घेरनेवाले नये द्वंद्व बने रहे हैं। तीखे आंतरिक विभाजनवाले भरतीय, खासकर हिंदी समाज, में इस द्वंद्व के अपने खतरनाक राजनीतिक आयाम हैं। इस आयाम के सांस्कृतिक संदर्भ को समझे बिना इसके राजनीतिक दुष्परिणाम से बचना मुश्किल है। यों तो पूरी दुनिया में सभ्यता और धर्म को समानार्थी बनाते हुए सभ्यताओं के संघर्ष के नाम पर धर्मों के संघर्ष की आशंका व्यक्त की जा रही है और उस संघर्ष का आह्वान भी किया जा रहा है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में दो विरोधी प्रतीत होनेवाली वैश्विक प्रवृत्तियों के एक साथ सक्रिय होने को लोग लक्षित

करते हैं। एक ओर विज्ञान और बाजार के द्वारा प्रदत्त भोग के समान अवसर के नाम पर पदानुक्रमीय सामुदायिक जनतंत्र की बात की जा रही है। दूसरी ओर धार्मिक अस्मिता के नाम पर समता विरोधी विश्व स्तरीय पुरोहितवादी भेदभावमूलक रुझान को बढ़ावा दिया जा रहा है। इस तरह बाजारवाद और साम्राज्यवाद का बनता हुआ नवसंश्रय जनतंत्र और धर्म दोनों का रणनीतिगत आश्रय लेता है। अपनी रणनीति के अंतर्गत यह नवसंश्रय मानवीय सभ्यता की मूल आकांक्षा से जनतंत्र और धर्म दोनों के सकारात्मक पक्ष को विच्छिन्न कर देता है। सिकुड़ता हुआ लोक कल्याणकारी राज्य जनतंत्र और धर्म दोनों के सकारात्मक पक्ष की सभ्यता से विच्छिन्नता रोकने की इच्छा और शक्ति दोनो को गँवा बैठता है। विरोधी प्रतीत होनेवाली वैश्विक प्रवृत्तियाँ मिलकर विश्व-व्यवस्था को सभ्यता-संघात की दिशा में धकेल रही हैं। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सैमुएल हंट्टिंगटन विश्व-व्यवस्था के समरस मानवीय सभ्यता की ओर बढ़ने के बदले विखंडित सभ्यता सचेतनता के कारण सभ्यता के विश्व-व्यापी संघात की बात करते हैं, तो हमारी चिंता और बढ़ जाती है। यह चिंता इसलिए भी बढ़ जाती है कि वे सभ्यताओं के नियामक ओर विधायक तत्त्वों के रूप में धर्मीय और नस्लीय संदर्भों की नृतात्त्विकता को यांत्रिक ढंग से महत्त्व देते हुए सभ्यता के संघात के नाम पर धार्मिक संघात की अनिवार्यता की आशंकाएँ व्यक्त करते हैं। आशंकाओं के अह्वान के आत्मघाती समय में साँस लेते हुए महसूस किया जा सकता है कि तेजी से अबांछित बदलाव के दौर से गुजर रही दुनिया में नवपुरोहितवाद का दखल बढ़ रहा है। यह नवपुरोहितवाद वर्ग के विलोप होने की बात करता है। यह सभ्यता के वर्ग-सत्य की जगह समुदाय-सत्य की बात प्रचारित करता है। वर्ग-सत्य का आधार आर्थिक होता है और समुदाय-सत्य का आधार धार्मिक होता है। वर्ग-सत्य वैज्ञानिक होता है और परिवर्त्तन की जनवादी चेतना के संघर्षशील राजनीतिक आशय से संपन्न होता है। सामुदायिक सत्य धार्मिक होता है और यथास्थिति के शरण में शांतिमय समर्पण की प्रवणता से संचालित होता है। नवपुरोहितवाद सभ्यता और संस्कृति के ऐतिहासिक विनिर्माण के जेनुइन आर्थिक आधार का निषेध करते हुए धार्मिक आधार का छद्म तैयार करता है। यहीं प्रचारित सामुदायिक जनतंत्र में आर्थिक संदर्भ के विचलन और धार्मिक संदर्भ के समर्थन के नवपूँजीवादी आग्रहों के निहितार्थ को सावधानी से पढ़ा जा सकता है।

नवपूँजीवाद इस बात को बखूबी समझता है कि समता की आकांक्षा जनतंत्र की न सिर्फ प्रेरणा है बल्कि उसका प्राण भी है। इसलिए नवपूँजीवाद समता की मौलिक मानवीय आकांक्षा के आर्थिक संदर्भों को धार्मिक संदर्भों से विस्थापित कर देने की योजना पर दत्त-चित्त होकर काम कर रहा है। यही कारण है कि आज धर्म का एकांत नये सिरे से खंडित हो गया है। शांति जाप करता हुआ धर्म तुमुल कोलाहल कलह के बीच जा पहुँचा है। इस तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात ही खोती जा रही है। दुनिया में बह रही यह हवा हमारे घर में तूफान है। सोच कर कैसा लगता है कि विज्ञान और विकास के इस युग में हमारी राष्ट्रीय ऊर्जा और मेधा का अधिकांश धर्मस्थलों और धर्म प्रतीकों की तथाकथित सुरक्षा पर खर्च हो रहा है। धर्म के महासागर में निम्न दबाव का

विनाशकारी क्षेत्र बन गया है। हमारे जनतंत्र को इस निम्न दबाव क्षेत्र के चक्रवात से बार-बार गहरे झटके लग रहे हैं। भारतीय संविधान की मूल आकांक्षा के अनुसार राज्य धर्मनिरपेक्ष है और इसके नागरिकों को धर्म पालन की स्वतंत्रता है। राज्य के धर्मनिरपेक्ष और समाज के धर्मप्राण होने से किसी प्रकार के द्वैध, अर्थात दो व्याघाती वैधता, का जन्म नहीं होता है। ऊपर से ऐसा दीखता भले हो लेकिन सही बात यह है कि राज्य और समाज में धर्म को लेकर टकराव के कारण अंतर्निहित नहीं हुए हैं। धर्म तो पूँजी का मोहरा है! फिर भी ऐसा प्रतीति कराने में देशी प्रभुवर्ग सफल होता जा रहा है कि भारतीय राज्य और समाज में धर्मनिरपेक्षता की संवैधानिक आकांक्षा के चलते हम टकराव की ओर बढ़ रहे हैं, यानी दवा में ही जहर है! इस प्रतीति को तोड़ सकनेवाले गहन सामाजिक, राजनीतिक और राजनीतिक यथार्थ के सामाजिक अन्वेषण पर गंभीरता से विचार किये जाने की जरूरत है। भारतीय संस्कृति के तार को उलझाकर सामाजिक सरगम में कोलाहल का हलाहल घोलनेवाले 'सिद्ध महात्मा' और 'सिद्धांतकार' 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' और 'धर्मप्राण समाज' के सहज सामंजस्य को उलटकर राज्य और नागरिक संबंधों की संवेदनशील जटिलताओं को चोटियाते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए नई-नई उलझनें पैदा करते हैं। 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' और 'धर्मप्राण समाज' के सामंजस्य को ठीक से समझने और बरतने के लिए भारतीय समाज और राज्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को बार-बार टटोलना होगा। यह काम सभ्यता ओर संस्कृति के नये वैश्विक संदर्भ को ध्यान में रखकार ही किया जा सकता है। क्योंकि इस वैश्विक संदर्भ में, जैसा कि श्यामाचरण दुबे 'समय और संस्कृति' में कहते हैं, 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।' धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्म पर आधारित भारतीय समाज के बीच के संबंधों की जटिलताओं को समझने के लिए इनके गठन की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को समझना जरूरी है। इन जटिलताओं को बहुत संवेदनशील बना दिया गया है। इस पर किये जानेवाले संवाद में अतिरिक्त संवेदनशीलता और संतुलन की भी जरूरत है। किसी भी प्रकार के सरलीकरण और अधीर कथन से संवाद की प्रक्रिया क्षतिग्रस्त हो सकती है। सुमित सरकार का संदर्भ लें तो इतिहास बताता है, 'वस्तुत: भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यत: आधुनिक संवृत्तियाँ हैं। गत

शताब्दियों में निश्चय ही हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं, वैसे ही जैसे कि शिया और सुन्नियों के झगड़ों अथवा जाति संघर्षों के। किंतु 1880 के दशक से पूर्व सांप्रदायिक दंगे कदाचित ही हुए हों।' कुछ लोग दुनिया में जनतंत्र के उदय को पूँजीवाद के उदय से जोड़कर देखने का प्रस्ताव करते हैं। ऊपर से यह ठीक दीखता भी है! इतिहास में ये एक साथ आते हैं। इनका सहवर्ती होना इनके सहअस्तित्व का प्रमाण नहीं है। औपनिवेशिक वातावरण में पूँजीवाद, राष्ट्रवाद, हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद उदीयमान भारतीय जनतंत्र के साथ लिपटकर आया। ध्यान देने की बात है कि पूँजीवाद अपने अस्तित्व के लिए जनतंत्र के ढाँचे को अपने सुरक्षाकवच के रूप में इस्तेमाल करता है। इस देश में काँग्रेस जैसी संस्था की स्थापना को प्रोत्साहित करने के पीछे सक्रिय औपनिवेशिक मनोभाव को याद किया जा सकता है। पूँजीवाद की दिक्कत यह है कि जनतंत्र का ढाँचा जहाँ उसे अपने अस्तित्व के लिए अनिवार्य सुरक्षाकवच लगता है वहीं जनतंत्र की अंतर्वस्तु उसे विष की तरह लगती है। पूँजीवाद की लाचारी यह है कि ढाँचा को अपनाने के साथ ही अंतर्वस्तु के लिए भी कुछ-न-कुछ जगह तो बन ही जाती है। पूँजीवाद जनतंत्र के ढाँचे का तो जम कर इस्तेमाल करता है किंतु उसकी अंतर्वस्तु से कन्नी काटने के लिए तरह-तरह के खुराफात करता रहता है। राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद ऐसे ही दो खुराफात हैं। कोई सहज ही लख सकता है कि जब पूँजीवाद, किसी बड़ी बाधा की अनुपस्थिति में, आगे की ओर निर्भय होकर बढ़ता है वह राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद की हवा चलाकर जनतंत्र की अंतर्वस्तु को क्षतिग्रस्त करता है। लोक-कल्याण और लोक-न्याय की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका से कन्नी काटनेवाला राज्य बहुत देर तक अपनी अंतर्वस्तु में जनतंत्रात्मक बना नहीं रह सकता है। जनतंत्र के अनुदार होते जाने के संदर्भ में फरीद जकारिया कहते हैं, 'भारतीय जनतंत्र के भीतर झाँकने पर जटिल और परेशान करनेवाले यथार्थ से सामना होता है। हाल के दशकों में भारत अपने प्रशंसकों के मन में बनी छवि से बहुत कुछ बदल गया है। यह नहीं कि यह कम जनतांत्रिक हुआ है, बल्कि एक तरह से यह अधिक ही जनतांत्रिक हुआ है। लेकिन इस में सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, कानून के पालन और उदारता की कमी हुई है। और ये दोनों प्रवृत्तियाँ – जनतांत्रिकता और अनुदारता – प्रत्यक्षत: संबंधित हैं।' इतिहास का अनुभव बताता है कि पूँजीवादी विकास के साथ जनतंत्र का ढाँचा तो बढ़ता जायेगा लेकिन उसकी अंतर्वस्तु छीजती जायेगी! इस छीजन का नतीजा है कि राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद के संकुचित घेरे के अंदर जनतंत्र अपनी सहिष्णुता खो देता है। राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद के संदर्भ में प्रेमचंद के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वे दोनों को मानवीय सभ्यता के लिए अभिशाप मानते थे। इतिहास गवाह है कि राष्ट्रवाद के नाम पर दुनिया में भयानक ढंग से घृणा का प्रसार और रक्तपात हुआ है। युरोप में जन्मे राष्ट्रवाद को अंधता की गिरफ्त में आने में देर नहीं हुई। भारत में राष्ट्रवाद के उदय का सकारात्मक पहलू यह था कि यह राष्ट्र के बाहर की औपनिवेशिक-शक्ति की राजनीतिक गिरफ्त से मुक्ति की प्रेरणा बनकर आया था। भारत में राष्ट्रवाद के उदय का नकारात्मक पहलू यह था कि यह राष्ट्र के भीतर की औपनिवेशिक-शक्ति की सामाजिक

गिरफ्त से मुक्ति के सवाल को, राष्ट्र के बाहर की औपनिवेशिक-शक्ति की राजनतिक गिरफ्त से मुक्ति की आकांक्षा के उन्माद से ढक देता था। ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद दोनों में भिन्न संदर्भ से ही सही लेकिन समता विरोधी होने के रुझान हैं। इस रुझान के कारण ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद का संश्रय बनता है। आज के दौर में यह संश्रय ओर मजबूत होकर प्रकट हो रहा है। यह प्रक्रिया स्वाधीनता आंदोलन के दिनों में भी जारी थी। इसीलिए, डॉ. आंबेडकर ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद को शत्रु मानते थे। वे ब्राह्मणवाद को जाति-संघर्ष के माध्यम से और पूँजीवाद को वर्ग-संघर्ष के माध्यम से परास्त करने की रणनीति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके विचार से 'इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद ...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह (निषेध वृत्ति) ब्राह्मणों तक ही सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है।(टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट) । भारतीय सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में मार्क्सवाद के विनियोग की संभावनाओं पर नये परिप्रेक्ष्य में विचार किया जा सकता है। भारत में राष्ट्रवाद के सकारात्मक पहलू का आलोक ज्यों-ज्यों कम होता गया त्यों-त्यों इसके नकारात्मक पहलू का अंधकार बढ़ता गया। दुखद ही है कि राष्ट्रवाद के नाम पर संप्रदायवाद चलता है। भारत में हिंदुत्वादी राष्ट्रवाद धर्म को ही राष्ट्र मानता रहा है और द्विराष्ट्रीयता के नाम पर देशघातक विभाजन तक हो गया। सावधानी की जरूरत इसलिए है कि आज फिर एक बार राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद भारत में विभिन्न स्तर पर सक्रिय है। चिंता की बात यह है कि इस बार राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद, जो वस्तुत: एक ही विश्व-पूँजीवादी सिक्का के दो पहलू हैं, आज तकनीक और सूचना-संचारतंत्र और भूमंडलीकरण की बड़ी परियोजना से संपन्न हैं।

**वैविध्य** और बहुलात्मक स्वभाव भारतीय संस्कृति के विधायक और नियामक तत्त्व हैं। भारतीय संस्कृति किसी भी नये जीवन-तत्त्व को आत्मसात करने में अत्यधिक दक्ष है। यह दक्षता वैविध्य और बहुलात्मक स्वभाव के बरताव से बनी ही है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीरण के जनविरोधी रुझान से संघर्ष और संघात तो लगभग तय है। सभ्यता का विकास धार्मिक और नस्लीय आधार पर न होकर, आर्थिक आधार पर हुआ है। प्रेमचंद ने ध्यान दिलाया था, 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।' इसलिए सभ्यता में संघर्ष और संघात की कोई स्थिति बनती है तो वह आर्थिक आधार पर ही होगी। चतुर-सुजान लोग धार्मिक-सांप्रदायिक-नस्लीय-आंचलिक-भाषिक में से चाहे जिस किसी एक (या सभी) आधार पर लोगों को बाँटकर कुछ दिनों तक अपना उल्लू सीधा करते रहें लेकिन अंतत: वर्गीय आधार

अपना काम जरूर करेगा। अच्छे जीवन-तत्त्वों के मिलने की भी संभावनाओं को नजर में बराबर बनाये रखना भी जरूरी होगा। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीरण के जनविरोधी रुझान के प्रति हमारा विरोध अंधा नहीं है। अंधराष्ट्रवादियों के द्वारा स्वदेशी के नाम पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया के विरोध और हमारे विरोध में यही तो अंतर है। हमारा राष्ट्रवाद हमें आत्मगठित तो करता है लेकिन आत्मबद्ध नहीं करता है। अंधराष्ट्रवाद आत्मबद्ध बनाते हुए आत्मगठन को विघटन के कगार पर पहुँचा देता है। इसलिए हमारे राष्ट्रवाद में वैविध्य और बहुलात्मक स्वभाव के लिए भरपूर जगह है जबकि अंधराष्ट्रवाद एकात्मकता की बात में अधिक दिलचस्पी रखता है। अंधराष्ट्रवाद आत्म-श्रेष्ठता का बाना ओढ़कर विश्व गुरुआई का छद्म रचते हुए अपने अनुयायियों को दाता होने के मिथ्या दंभ से भर देता है। राष्ट्रवाद देने या लेने की ही नहीं लेने-देने की संस्कृति में विश्वास रखता है। अंधराष्ट्रवाद के सन्निपात से ग्रस्त भक्त कहीं भी और कभी भी आपको पूरा हिसाब बता देंगे कि किसी तरह विश्व में जो भी श्रेष्ठतर है, वह पूरे विश्व को उन्हीं का दान है। सच्चे राष्ट्रवादी का स्वर क्या होता है? रवींद्रनाथ के शब्दों को याद रखना होगा। उन्हें - बंदेमातरम - की याद है। यह याद क्यों याद नहीं है कि सब से ऊपर मनुष्य है, उससे ऊपर कुछ भी नहीं! हाँ कुछ भी नहीं! न राष्ट्र और न धर्म! अंधराष्ट्रीयता से ग्रस्त लोग सबसे पहले राष्ट्रीय अस्मिता को विश्व-पूँजी का उपनिवेश बनाने में लगे पाये जाते हैं। बहुत रियायत करें तो उन्हें उस तोते की तरह मान सकते हैं जो शिकारी आयेगा, जाल बिछायेगा, दाना डालेगा, लोभ से उसमें फँसना नहीं का जाप करते हुए आराम से जाल के अंदर मस्त रहते हैं। वैश्विक वास्तविकताओं से विमुख राष्ट्रवाद संकीर्णता की अंधी खायी में पतित होता है। सभ्यता और संस्कृति की गति हमेशा विश्वोन्मुखी रही है। यह उन्मुखता इतनी अनिवार्य रही है कि कई बार संस्कृतियाँ अपनी व्याप्ति को ही विश्व मानकर चलती है। राष्ट्रवाद निश्छल वैश्विक वातावरण के बनने तक ही काम का रहता है। उपनिवेशक के राष्ट्रवाद और उपनिवेशित के राष्ट्रवाद में अंतर होता है। उपनिवेशक के लिए राष्ट्रवाद शोषण का आधार मुहैय्या करता है तो उपनिवेशित के लिए यही राष्ट्रवाद शोषण से लड़ने का सामाजिक आधार भी मुहैय्या कराता है। आज का छलिया वैश्वीकरण व्यापार को तो वैश्विक बनाता है, लेकिन व्यवहार को स्थानिकता की ओर धकेल देता है; राष्ट्रीय संप्रभुताओं का अपहरण कर लेता है और राष्ट्रीय सामाजिकताओं को अंधराष्ट्रवाद के पाले में चले जाने को बाध्य करते हुए राष्ट्र को सामाजिक अंतर्कलह के मकतल में बदल देता है। भारत जैसे वैविध्यपूर्ण और बहुलात्मक महाजातीय राष्ट्र में अंधराष्ट्रवाद की प्रवृत्ति के सक्रिय होने से सामाजिक अंतर्कलह विस्फोटक हद तक पहुँच सकता है। इसलिए अंधराष्ट्रवाद के प्रति भारत के लोगों को विषेष रूप से सचेत रहना जरूरी है। हमारे सामने बार-बार यह प्रश्न उठता है कि समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व विरोधी देशी शोषकों का सुरक्षाकवच बननेवाला राष्ट्रवाद हमारे लिए अधिक प्रयोज्य है या इस सुरक्षाकवच को भेदकर समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के पक्ष में काम करनेवाला विश्ववाद अधिक प्रयोज्य है? यह बहुत ही जटिल तथा क्षण-क्षण रूप और वस्तु बदलनेवाला सवाल है। इस सवाल का जवाब पाने के लिए सतर्क सामाजिक संतुलन की जरूरत पड़ती है। घर में

दुश्मन भी हैं तो मित्र घर के बाहर भी हैं। क्या घर में लगी आग को हम बाहर के पानी से बुझाने के लिए इसलिए तैयार नहीं होंगे कि घर को आग तो, घर के चिराग से लगी है! जनतांत्रिक पूँजीवाद और सामाजिक जनतंत्र की जटिलताओं को समझने की कोशिश करनी होगी। बार-बार देखना होगा कि क्या राष्ट्रीय जनतंत्र की जगह सामुदायिक जनंतत्र को अधिक महत्त्व प्रदान करने का छल रचते हुए साम्राज्यवाद अंतत: जनतंत्र की अंतर्वस्तु और मानवीय सभ्यता को शोषण की गहरी घाटी की ओर तो नहीं हाँक रहा है? वस्तुत: मानवीय समता, मानवीय स्वतंत्रता और मानवीय बंधुत्व तो जनतंत्र का हीर है। इसका केंद्रीय तत्त्व मनुष्य है। पूँजीवाद की नाभिकीयता में मनुष्य की जगह मुनाफा है। मुनाफा के लिए समता, मुनाफा के लिए स्वतंत्रता और मुनाफा के लिए बंधुत्व पूँजीवाद का हीर है! मुनाफा और मनुष्यता में कैसा रिश्ता है! क्या मुनाफा और मनुष्य के बीच बढ़ते हुए संघात की अंतर्लिपि को सभ्यता संघात की भाषा के रूप में नहीं पढ़ा जाना चाहिए!

सभ्यता के विकास के प्रारंभ से शिक्षा का एक वैश्विक आयाम सर्वदा आकांक्षित रहा है। इसी आकांक्षा के कारण शिक्षा के शिखर संस्थानों को विश्वविद्यालय कहा जाता है। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने शिक्षा के 'भारतीयकरण' की माँग पर 26 नवंबर 2002 राजधानी दिल्ली में एक रैली का आयोजन किया था। आज जब जीवन के अन्य प्रसंगों में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को विश्व-स्तरीय जनविरोध के बावजूद चलाने की कोशिश की जा रही है तब शिक्षा को 'वैश्विकता' के उलट उसके 'भारतीयकरण' की माँग का मतलब क्या हो सकता है? राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत प्रतीत होनेवाली ऐसी माँग असल में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया की ही मददगार होती है। विज्ञान और वाणिज्य की शिक्षा का भारतीयकरण क्या हो सकता है! सीधी बात यह है कि 'भारतीयकरण' की इस माँग का संदर्भ मानविकी से जुड़ता है। हम जानते हैं मानविकी, विशेषकर इतिहास, साहित्य आदि से संबंधित विषयों, को लेकर पिछले कुछ वर्षों से किस प्रकार का शैक्षणिक और सामाजिक वातावरण बनाने की कोशिश निरंतर की जा रही है। इस वातावरण में शिक्षा के 'भारतीयकरण' की माँग असल में शिक्षा के 'हिंदुत्वीकरण' की ही माँग है। इस माँग का एक सिरा मिशनरियों के स्कूलों और मदरसों के पाठ्यक्रम से भी जोड़ा जा सकता है। इस मामले में सर्वोच्च न्यायलय की एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है। मोटे तौर पर इस टिप्पणी का आशय यह है कि राज्य से अनुदान प्राप्त शिक्षण संस्थान को ही सरकार के अनुमोदन की जरूरत रह जाती है। जो अनुदान न दे उसके अनुमोदन की परवाह वैसे भी कौन करता है! जब शिक्षा के आधार पर राज्य हमें जीवनयापन की बुनियादी सुविधाएँ देने की स्थिति में नहीं रहेगा तब उसके द्वारा किसी की शिक्षा को मान्य या अमान्य ही करने से क्या फर्क पड़ता है! यद्यपि रोजगार शिक्षा का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है तथापि शिक्षा का मकसद रोजगार उपार्जन में सक्षम बनाने के प्रयोजन से ही सीमित नहीं होता है। शिक्षा का मकसद जटिल जीवन-परिस्थितियों में बेहतर सामाजिक और नागरिक निर्णय लेने में सक्षम

सामाजिक और नागरिक मन बनाने तक फैला होता है। औपनिवेशिक राज्य शिक्षा के मकसद को रोजगार उपार्जन में सक्षम बनाने तक सीमित रखता है। सक्षम सामाजिक और नागरिक मन से उसका आशय गुलामी में आनंद की अनुभूति कर सकनेवाले मन से होता है! जनतंत्रात्मक राज्य शिक्षा के मकसद को जटिल परिस्थितियों में विवेकसम्मत निर्णय लेने में सक्षम सामाजिक और नागरिक मन बनाने तक फैलाने की कोशिश करता है। जिस समय में धर्म को राजनीतिक समूह में बदलने की प्राणघाती कुचेष्टा हो रही है उस समय में ऐसा सामजिक और नागरिक मन सिर्फ धर्मनिरपेक्ष शिक्षा ही बना सकती है। धर्म आधारित शिक्षा नहीं क्योंकि, 'धार्मिक विश्वास सदा विज्ञान और विकास का दमन करते रहे हैं। याद रखिये, मानव समाज का जितना विकास हुआ है, वह सब धार्मिक विश्वासों की पराजय और पुराने विश्वासों के टूटने से हुआ है।' इसलिए प्रेमचंद कहते हैं, 'आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली। कई हजार वर्षों से हम यही परीक्षा करते चले आ रहे हैं। वह श्रेष्ठतम मार्ग था। उसने समाज के लिए ऊँचे से ऊँचे आदर्श की कल्पना की और उसे प्राप्त करने के लिए ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत की सृष्टि की थी। उसने मनुष्य की स्वेच्छा पर विश्वास किया, लेकिन फल इसके सिवा कुछ न हुआ कि धर्मोपजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या पृथ्वी का भार हो गयी। समाज जहाँ था वहीं रह गया, नहीं, और पीछे हट गया। संसार में अनेक मतों और धर्मों और करोड़ों धर्मोपदेशकों के रहते हुए भी जितना वैमनस्य और हिंसा भाव है, उतना शायद पहले कभी नहीं था।' विडंबना है कि आज भारत में समाज के कुछ प्रभावशाली तबका के लिए 'राष्ट्रीयकरण' और 'भारतीयकरण' की माँग का निहितार्थ 'हिंदुत्वीकरण' से भिन्न नहीं है। इस 'हिंदुत्वीकरण' का आशय अपने मूलार्थ में 'सवर्णहित' के पोषण से सीमित है। 'भारतीयकरण' के बहुजन ग्राह्य स्वरूप और उसके सवर्ण आशय एक नहीं हैं। इतिहास में झाँकें तो राजनीतिक चेतना में धर्म को कथित राष्ट्रीयता के आवरण में छिपकर आता हुआ देखा जा सकता है। अधिकतर लोगों के मन में जीवन के सरोकारों के प्रति अनुराग और आदर निश्चय ही बचा हुआ है। इस आदर और अनुराग को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस तरह के 'भारतीयकरण' और 'राष्ट्रीयकरण' की माँग पर गहरी आपत्ति होनी चाहिए।

राज्य और समाज की उत्पत्ति के जटिल सिद्धांतों में गये बिना भी कहा जा सकता है कि असली सत्ता जनता में निहित होती है। जनता समाज में रहती है। इसलिए असली सत्ता तो मूल रूप से समाज के पास ही होती है। राज्य समाज का संगठित ढाँचा है। समाज की सत्ता राज्य में अंतरित हो जाती है। राज्य का यह दायित्व है कि वह समाज से प्राप्त सत्ता का सही और सार्थक इस्तेमाल करते हुए समाज के हितों की रक्षा करे। सत्ता के समाज से राज्य में अंतरित हो जाने से समाज में एक प्रकार का खालीपन बनता है। इस खालीपन के दुष्प्रभाव से समाज को बचाने की सतत चेष्टा राज्य को करनी चाहिए। इसका एक तरीका है राज्य के द्वारा

विभिन्न स्तरों पर सत्ता के विकेंद्रण के लिए छोटे-छोटे सत्ता-केंद्रों का निर्माण करना और उन्हें फिर सूत्रबद्ध करते हुए भागीदारीमूलक सामाजिक विकास में सहयोजी बनाना। पंचायती व्यवस्था इसका एक मॉडल है। इस प्रकार सत्ता-प्रवाह का चक्र पूरा होता है। यह काम सच्चे जनतंत्रात्मक राज्य में ही संभव हा सकता है। राज्य में जनतंत्र के प्रति व्यावहारिक सम्मान में कमी के कारण यह खालीपन भर नहीं पाता है। इस खालीपन से बचने के लिए समाज राज्य को अपनी सत्ता का सर्वाधिकार खुले मन से अंतरित नहीं करता है। सत्ता का सर्वाधिकार पूँजीवादी राज्य छोड़ना नहीं चाहता। वैसे भी, सत्ता इतनी आसानी से कहाँ छूटती है! समाज और राज्य में तनाव बढ़ता है। सत्ता की डोरी के एक छोर पर समाज और दूसरे छोर पर राज्य हमेशा पकड़ बनाये रहते हैं। एक रस्साकशी चलती रहती है। फलत: राज्य और समाज के संबंधों के अंतरावलंबन में एक प्रकार का तनाव सदैव बना रहता है। ऐसी स्थिति में, इस तनाव को टूट और सहनशीलता की सामान्य सीमा के आगे बढ़ने नहीं देने का दायित्व राज्य और समाज दोनों का है। इस दायित्व को पूरा करने में कारगर और प्रमाणिक आधार संविधान प्रदत्त करता है। संविधान इस बात की गारंटी करता है कि चूँकि जनतंत्र में संख्या का अपना महत्त्व होता है इसलिए संख्याबल की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली समाज और कमजोर समाज के बीच राज्य किसी प्रकार का कोई भेदभाव न करे। समाज के बनाव का एक मुख्य आधार होता है। यह दुखद ही है कि ज्ञान-विज्ञान के आज के युग में भी सामाजिकता के लिए 'हम' और 'अन्य' के रूप में चिह्नित किये जाने के मुख्य आधार का अधिकांश धर्म ही बनाता है। अंधराष्ट्रीयता को बढ़ावा देने के लिए धर्म का ही नहीं सभी अवधारणाओं का सांप्रदायिक इस्तेमाल किया जाता है। धर्म या ऐसे किसी भी आधार पर बने समुदाय को सत्ता प्राप्ति के लिए राजनीतिक समुदाय में बदलने की परियोजना पर लगातार काम किया जाता है। इस पेंच को समझना होगा कि ऐसा क्यों होता है। यदि आर्थिक आधार पर सामाजिकता का बनाव होगा तो संसार के सारे धनवान अल्पसंख्यक हो जायेंगे। गरीब लोगों के दबाव से अमीर लोगों को बचाने के वास्ते यह जरूरी होता है कि 'हम' और 'अन्य' के रूप में चिह्नित किये जाने के लिए मुख्य आधार का बनाव आर्थिक संदर्भों से न बने। इसके लिए धर्म अधिक विश्वसनीय होता है। सामाजिकता के बनाव का मुख्य आधार धर्म बना रहे इसके लिए धनवानों की सत्ता सदैव सक्रिय रहती है। ऐसी सत्ता, एक हाथ से धार्मिक अल्पसंख्यकों को धार्मिक बहुसंख्यकों के किसी भी प्रकार के दबाव से बचाने का आश्वासन देती है और दूसरे हाथ से धार्मिक बहुसंख्यकों को धार्मिक अल्पसंख्यकों के मन में डर बैठाने के लिए उकसाती भी रहती है। इसमें राज्य सत्ता के द्वारा धर्मनिरपेक्षता का सबसे कुत्सित इस्तेमाल होता है। दुखद है कि भारतीय राज्य सत्ता भी धर्मनिरपेक्षता के इस कुत्सित इस्तेमाल से बच नहीं पाई। बल्कि ज्यों-ज्यों भारतीय राज्य में पूँजीवादी रुझानों के समावेश का आग्रह बढ़ता गया त्यों-त्यों धर्मनिरपेक्षता के कुत्सित इस्तेमाल की प्रवृत्ति भी बढ़ती और उजागर होती गई है। राज्य के धर्मनिरपेक्ष होने का मतलब है, धर्मनिरपेक्षता के प्रति राज्य का आग्रहशील होना। धर्मनिरपेक्ष मूल्यों की व्यापक सामाजिक स्वीकृति के लिए सतत आप्राण चेष्टा करते रहना। लेकिन भारतीय राज्य में ऐसा

हुआ नहीं। ऐसा नहीं हुआ क्योंकि, जिस जनतंत्र के बल पर यह होना था उस जनतंत्र की प्रक्रिया चुनाव जीतने की आकांक्षा से ही सीमित होकर रह गई। नागार्जुन की कविता का संदर्भ लें, 'इस 'क्रांति-शांति' के नाटक से/ सच कह दूँ, मैं तो गया ऊब!/ ब्राह्मणशाही की दलदल में/ लो, बापू, फिर हम गए डूब।// इस प्रजातंत्र पर है सवार/ नव रूढ़िवाद, नव जातिवाद/ प्रभुओं के नव-नव गात्र ढले/ फैले ताजे दंगा-फसाद।/ निर्वाचन के हो-हल्ले में/ खो गया हाय बहरा विवेक/ आपाधापी में सबकी है —/ कैसे भी जीतूँ, यही टेक!'

जो हो, राज्य के सामाजिक दायित्वबोध में शिथिलता से बहुत सारी उलझनें पैदा हो जाती हैं। ये उलझनें तब और मारक हो जाती हैं, जब राज्य के एक अंश व्यवस्थापिका या सरकार में संवैधानिक मनोभावों के प्रति वास्तविक और आंतरिक आदर कम होने लगता है। संविधान व्यवस्थापिका को ताकत तो प्रदान करता है, लेकिन साथ में कुछ शर्तें भी लगाता है। व्यवस्थापिका को ये शर्तें पसंद नहीं आती हैं। इस स्थिति में राज्य के लिए संविधान उसका जीवित अवयव न होकर सिर्फ यांत्रिक अवयव बन जाता है। इस स्थिति में राज्य की मूल आकांक्षा और सरकार के करतब में अर्थात राज्य के सिद्धांत और आचरण में एक प्रकार की फाँक विकसित हो जाती है। यह फाँक अंततः राज्य की आंतरिक संरचना को विखंडित कर देती है। ऐसे विखंडनों से होनेवाली क्षति की पूर्ति एक हद तक राज्य अपनी आंतरिक शक्ति से कर लिया करता है। लेकिन एक हद तक ही। उसके बाद राज्य एक प्रकार की रुग्नता की स्थिति में पहुँचकर खटिया पकड़ लेता है। इधर इस तरह की फाँक कुछ अधिक तेजी से विकसित हो रही है। इस फाँक में सारे जनतांत्रिक मूल्य धीरे-धीरे समाते जा रहे हैं। हमारा जनतंत्र धीरे-धीरे खटिया पकड़ने लगा है। यह अतिकथन या अग्रकथन नहीं है। इधर हमारे शासकों के अंतर्मन में जनतंत्र से प्राप्त शक्तियों के बल पर राजतंत्रीय आचरण के प्रति तीव्र आकर्षण पैदा हुआ है। राज्य और नागरिक के संवैधानिक संबंध की आत्मीयता में भारी गिरावट आई है। जन के लिए जनतंत्र कवच का काम करता है। कवच आघातों से रक्षा करता है, अगर हम कवच की रक्षा कर सकें। अभी कवच की रक्षा का ही सवाल प्रमुख है। जन के जीवन को सुरक्षित बनाने में जनतंत्र मददगार हो, यह एक बुनियादी और सामान्य नागरिक अभिलाषा है। आज हम जिस स्थिति से गुजर रहे हैं, वह असामान्य है। इस असामान्य स्थिति में जनतंत्र के समग्र के अक्षत बने रहने के लिए जन सक्रियता अनिवार्य है। जन सक्रियता कैसे हो? इस संदर्भ में, नागरिक जमात की हालिया गतिविधि और राज्य के द्वंद्व को भी पढ़ना चाहिए।

कुछ लोग इस बात पर दिली तौर पर यकीन करते हैं कि भारत एक धर्मप्राण देश है। धर्म इसके लिए सबसे बड़ा मूल्य रहा है। धर्मनिरपेक्षता अ-भारतीय अवधारणा है। यह सेकुलरिज्म का अनुवाद मात्र है, भारतीय अनुभव नहीं। यह बात सही नहीं है। सच यह है कि भारत जितना धर्मप्राण रहा है, उससे ज्यादा धर्मनिरपेक्ष रहा है। इतिहास बताता है, 'असोक के बाद राज्य ने एक नये कार्य को आगे बढ़ाने का जिम्मा लिया – विभिन्न वर्गों

में समन्वय स्थापित करना। अर्थशास्त्र ने इसकी कल्पना भी नहीं की थी, और असलियत यही है कि समाज के वर्गों का उदय एक प्रकार से उन छिद्रों से हुआ है जो भारतीय राजतंत्र – व्यापक पैमाने पर भूमि की सफाई, भूमि अधिवास तथा अत्यधिक नियंत्रित व्यापारवाले राजतंत्र में – पैदा हो गए थे। समन्वय के इस कार्य के लिए विशेष अस्त्र था – नए अर्थवाला सार्वभौमिक धम्म। नवोदित धर्म ने राजा और नागरिक के आपसी मेल-मिलाप के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। आज भले ही यह सर्वोत्तम उपाय न प्रतीत हो, पर उस समय वह तुरंत कारगर सिद्ध हुआ। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि असोक के समय से भारत के राष्ट्रीय चरित्र पर धम्म की छाप लग गई। धम्म शब्द का अर्थ शीघ्र ही 'समदृष्टि' से बदलकर भिन्न हो गया, यानी 'धर्म' हो गया – पर यह वह धर्म नहीं था जिसे स्वयं असोक ने खुले आम स्वीकार किया था। इसके बाद भारतीय संस्कृति के विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही कि इस पर किसी-न-किसी धर्म का भ्रामक बाह्य आवरण सदैव चढ़ा रहा।' डॉ. सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् धर्मों की आधारभूत अंतर्दृष्टि पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'अशोक ने अपने शासन-काल के दसवें (260 ई.पू.) वर्ष में बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और तब से जीवन के अंत तक वह बुद्ध का अनुयायी रहा। यह उसका व्यक्तिगत धर्म था और उसने प्रजा को इस धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न नहीं किया।' आगे (नीकम एवं मैककियोन के संदर्भ से) 'एडिक्ट्स आफ अशोक' , शिलालेख - 12 में अशोक की घोषणा का वे उल्लेख करते हैं। इस उल्लेख के अनुसार, 'सम्राट प्रियदर्शी इच्छा करते हैं कि सभी धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धांतों को जानें और उचित सिद्धांतों की उपलब्धि करें। जो इन विशिष्ट मतों से संबद्ध हैं, उनसे कह दिया जाना चाहिए कि सम्राट प्रियदर्शी उपहारों एवं उपाधियों को इतना महत्त्व नहीं देते, जितना उन गुणों की वृद्धि को देते हैं जो सभी धर्मों के आदमियों के लिए आवश्यक है।' भारतीय समाज में हिंदू-मुस्लिम-संबंध पर चर्चा करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' भोपाल के राज-पुस्तकालय में मौजूद हुमायूँ के लिए बाबर के लिखे वसीयतनामे के हवाले से बताते हैं कि बाबर ने हुमायूँ को संबोधित करते हुए कहा कि 'हिंदुस्तान में अनेक धर्मों के लोग बसते हैं। भगवान को धन्यवाद दो कि उन्होंने तुम्हें इस देश का बादशाह बनाया है। तुम तअस्सुब से काम न लेना; निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी घर्मों की भावना का ख्याल करना।'

## सामाजिक

धर्मनिरपेक्षता का भारतीय संदर्भ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दुखद ही है कि भारतीय जनतंत्र के जन्म के समय से ही उसके अंदर धुरंधर लोग धर्मनिरपेक्षता के विलोम के लिए जगह बनाने में लगे हैं। राजतंत्र के सशक्त रूप में होने के बावजूद ईसा पूर्व सम्राट अशोक की यह आकांक्षा कि 'केवल ताल-मेल ही श्लाध्य है: समवाय

एव साधु:' हुमायूँ को बाबर की यह सीख कि 'निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों की भावना का ख्याल करना' कितना महत्त्वपूर्ण और आश्वस्तिकर है! धर्मनिरपेक्ष विचार का इससे सुंदर उदाहरण और कहाँ मिल सकता है? अशोक के बौद्ध और बाबर के इसलामिक संदर्भ के अतिरिक्त हिंदु संदर्भ को देखना भी दिलचस्प हो सकता है। हिंदु जीवन में चार पुरुषार्थों अर्थात जीवन के चार महान लक्ष्यों की बड़ी चर्चा होती है। ये चार पुरुषार्थ या महान लक्ष्य हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनके पारस्परिक संबंध के बारे में बताया जाता है कि वही धर्म, धर्म है जो अर्थ के अर्जन में सहायक होता है; वही अर्थ, अर्थ है जो काम की संतुष्टि में सहायक होता है; वही काम, काम है जो मोक्ष लाभ करने में सहायक होता है। मोक्ष परम मूल्य है, सबसे बड़ा पुरुषार्थ। धर्म सबसे शुरुआती पुरुषार्थ है। भारत जब धर्मप्राण देश था तब उसके धर्म का प्राण किसी पूर्वपरिभाषित और सीमाबद्ध धर्म-संहिता में नहीं बसता था। चरैवेति, चरैवेति भारतीय जीवन के अन्य पक्षों के साथ-साथ इसके धर्म की गत्यात्मकता को भी प्रतिध्वनित करता है। जब विभिन्न धर्म अपने आज के रूप में नहीं थे तब भी धर्म को लेकर भारतीय मानस बहुत गतिशील था। यक्ष ने यह भी तो पूछा था धर्मराज से कि धर्म क्या है? इस सवाल का जवाब उतना ही आसान होता जितनी आसानी से आज के धर्मधुरंधर इसका जवाब दे देते हैं, तब यह प्रश्न यक्ष-प्रश्न बनता ही क्यों? धर्म बहुत ही जटिल मामला है। इसे किसी एक ही ओर से समझने का दुराग्रह हमें खतरे में डालता है। मूल बात यह है कि एक घाट पर बँध कर धर्म गतिशील नहीं रह सकता है। गतिशीलता के बिना धर्म जीवित नहीं रह सकता है। धर्म अपने से निरपेक्ष रहकर ही गतिशील रह सकता है। इसलिए धर्मनिरपेक्षता धर्म के प्राणवंत बने रहने की भी अनिवार्य शर्त है। इस तथ्य को अपने ऐतिहासिक विकासक्रम में भारतीय राज्य और समाज दोनों ने हासिल कर लिया था। न सिर्फ हासिल कर लिया था बल्कि अपने अस्तित्व के लिए इसे अपनी संवेदना का अंग बना भी लिया था। परवर्ती दिनों में इसमें जो भी फाँक आई है वह राजनीतिक कारणों से सत्ता के लिए धर्म के दुरुपयोग की प्रवृत्ति के कारण पैदा हुई है। ये अज्ञानी नहीं हैं। ये जानते हैं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है। लेकिन सत्ता की आकांक्षा में इनकी स्थिति उस दुर्योधन की तरह है जो कृष्ण से कहता है :- 'जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति:। जानाम्यधर्म न च मे निवृत्ति:।'

राजनीतिक कारणों से सत्ता के लिए धर्म के दुरुपयोग का भी अपना इतिहास रहा है। सच्चे साधु-संतों और साहित्यिकों ने इसे उसी ऐतिहासिक विकासक्रम में इस दुरुपयोग को समझा भी है और उसके प्रति सावधान भी किया है। इस सवधान करने का भी अपना इतिहास है। बहुत विस्तार में जाने की गुंजाइश यहाँ नहीं है, फिर भी प्रसंगवश कुछ की चर्चा तो की ही जा सकती है। इससे उनकी चिंता के मूल केंद्र और उस समय के सामाजिक संबंध में धार्मिक परिप्रेक्ष्य से बनाये जा रहे मारक तनाव का भी पता चलता है। ध्यान में रखने की बात यह है कि ये कवि अ-धार्मिक नहीं थे। आज के किसी

भी स्वनामधन्य धार्मिकों से अधिक धार्मिक थे। लेकिन उनका अपना धर्म उनके निर्विशिष्ट मनुष्य बनने में कहीं से बाधक नहीं बन रहा था। बल्कि निज धर्म के ढाँचे की कोष्ठबद्धता से बाहर निकलकर उनके मनुष्यतर बनने की प्रेरणा बन रहा था। गोरखनाथ, नामदेव, कबीर, दादूदयाल, रज्जबजी आदि के संदर्भ से हम समझ सकते हैं कि सामाजिक एकता के संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष होकर किस प्रकार धार्मिक हुआ जा सकता है। धर्म मूलत: उस लोक का मामला माना जाता है। इन कवियों के यहाँ धर्म के ये संदर्भ पूर्णत: इसी लोक से संबंधित है। यह स्थिति उस राजतंत्र में थी जिस राजतंत्र में देश के शासन की बागडोर उन मुसलमान शासकों के हाथ में थी, जिन्हें आज कट्टर और क्रूर बताया जाता है। इस पूरे प्रकरण में एक बात की ओर ध्यान गये बिना नहीं रहता है कि उस समय भी सवर्ण कवियों की वाणी में और उदात्त चेतना चाहे जितनी हो लेकिन हिंदू मुसलमान संबंधों में मधुरता के लिए राम और रहीम के एक होने की बात या तो है ही नहीं या बिल्कुल अप्रभावी है। यह तथ्य तब और परेशान करता है जब हम आज के भारतीय राज्य में जनतंत्र की उपस्थिति में भी लक्षित करते हैं कि हिंदू मुसलमान के बीच कटुता पैदा करनेवालों में निर्णायक स्वर सवर्णों का ही दीखता है। यह महज संयोग नहीं है। इसके पीछे सामाजिक-आर्थिक संरचना के धर्मेतर प्रसंगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। परीक्षा की जानी चाहिए कि धर्म पर आधारित भारतीय राजनीति की जिस संरचना से भारतीय राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बहुत खतरा है, उस संरचना का कितना अंश सवर्ण मनोभावों से निर्मित हैं।

भारतीय राज्य की धर्मनिरपेक्ष आकांक्षा को अवहेलित करते हुए हिंदू और मुसलमान के राजनीतिक और सामाजिक संबंधों में नाना प्रकार के अवरोध उत्पन्न करने की चेष्टा होती रही है। इस अवरोध से सामाजिक मन में रसौलियाँ भी बनती रही हैं। ये रसौलियाँ सबसे बड़े और भद्दे रूप में हिंदी समाज के मन में बनी हैं। इसलिए हिंदी समाज के बनाव पर भी विचार किया जाना चाहिए। हिंदी समाज सुदीर्घ संघर्ष, धर्म पर आधारित समाज में धर्मनिरपेक्ष चेतना के होने का प्रमाण है। देखा जाना चाहिए कि हिंदी समाज इन रसौलियों के बनने नहीं देने के लिए कितना लंबा संघर्ष करता रहा है। देखना यह भी चाहिए कि क्यों उसके लंबे संघर्ष क्यों सफल नहीं हो पाये हैं। क्या इस विफलता के मूल में भी चेतना और संघर्ष का संगठित न हो पाना ही नहीं है? शायद हाँ। लक्षित किया जा सकता है कि समाज मूल रूप से धर्म पर आधारित होने के बावजूद अपने आचरण में धर्मनिरपेक्ष रहा है जबकि राज्य धर्मनिरपेक्षता पर आधारित होने के बावजूद अपने आचरण में धार्मिक होता जा रहा है। राष्ट्रवाद, संप्रदायवाद और भूमंडलीकरण जैसी विरोधी प्रतीत होनेवाली अवधारणाओं का अद्‌भुत संश्रय बनाकर विश्वपूँजीवाद के दुनिया दखल अभियान के युग में हम पहुँच गये हैं। क्या यह अभियान इतना आसान होगा? इतिहास का अनुभव बताता है यह बहुत आसान अभियान नहीं होगा, मनुष्य की आँख को फोड़कर भी समता और स्वतंत्रता के स्वप्न को उससे छीना नहीं जा सकता है। स्वप्न है तो संगठन भी होगा। आज नहीं तो, कल संगठित

स्वप्न संसार का सच होगा। इसके पीछे सक्रिय स्वार्थ के अवगुंठन को खोलना समाज और साहित्य की बड़ी चुनौती है।

इस सामग्री के  उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान